शिक्षा पर कसा नवउदारवादी शिकंजा

प्रेम सिंह

(यह लेख करीब 16-17 साल पहले का है। हिंदी मासिक 'युवा संवाद' में प्रकाशित हुआ था। तब भारत में कांग्रेसनीत यूपीए सरकार का दूसरा कार्यकाल था। राष्ट्रीय जीवन के सर्वाधिक महत्वपूर्ण और संवेदनशील विषय शिक्षा का संवैधानिक कर्तव्यों के बरखिलाफ नवउदारवाद की नियामक वैश्विक संस्थाओं के डिक्टेट पर बहुपरतीकरण, व्यावसायीकरण और बाजारीकरण किया जा रहा था। राजनैतिक और बौद्धिक अभिजन दोनों यह कर रहे थे। आज भी कर रहे हैं। उन्हें शिकायत केवल शिक्षा में आरएसएस/भाजपा सरकार के सांप्रदायिक अजेंडे से है। इस पर ध्यान नहीं दिया जाता कि जब शिक्षा का बहुपरतीकरण, व्यावसायीकरण और बाजारीकरण होगा तो एक पड़ाव पर सांप्रदायीकरण क्यों नहीं होगा!

यह लेख फिर से इसलिए जारी किया गया है कि नई पीढ़ियां यह देख लें कि कुछ बुद्धिजीवियों ने निगम-सांप्रदायिक गठजोड़ (कारपोरेट-कम्युनल नेक्सस) के दौर में फैले वितंडावाद के बावजूद अपना संविधान और स्वतंत्रता संघर्ष के मूल्यों पर अडिग पक्ष नहीं छोड़ा। वे यह देख लें कि संविधान की झूठी कसम खाने वाले, और संविधान की भावुक गुहार लगाने वाले दोनों ईमानदार नहीं हैं। 'नया भारत' बनाने में दोनों की संलिप्तता है। इनका नया भारत संवैधानिक भारत नहीं होना है। वह बहुतायत में हिंदू भारत है, जिसमें जगह-जगह मुस्लिम भारत के चिकते नजर आते हैं, कुछ सिख भारत है, कुछ ईसाई भारत है। यूरोप-अमेरिका में भी इसका एक हिस्सा बसता है। इनके अंतर्गत जातियों, क्षेत्रों, भाषाओं, कबीलों आदि पर आधारित कई-कई उपभारत हैं। आपस में प्रतिस्पर्धी भारतों के सत्ता-स्वार्थी गठजोड़ का अंपायर नया साम्राज्यवाद है। प्रतिस्पर्धा के नियम वही बनाता है।

नई पीढ़ियां यह जान भी लें कि नए भारत की टीम ने संवैधानिक विचारधारा के संघर्ष को भले ही दबा दिया है, और उसकी राजनैतिक ताकत नहीं बनने दी है; लेकिन विचार के स्तर पर वह पूरी ताकत के साथ मौजूद है; और संघर्ष छोड़ा नहीं गया है। दोहराने की जरूरत नहीं कि सही शिक्षा उस संघर्ष की आधारभिति है। दरअसल, जिस दिन यह संघर्ष छोड़ दिया जाएगा, करोड़ों भारतीयों की कुर्बानियों से बने स्वतंत्र, संप्रभु, धर्मनिरपेक्ष, समाजवादी, लोकतांत्रिक, आधुनिक भारत की मृत्यु हो जाएगी।)

अनिल सदगोपाल का अलख

गांधी ने जहां पूंजीवादी-साम्राज्यवादी सभ्यता का मर्मभेदी पाठ किया था, वहीं उसकी गुलामी की तरफ आकर्षित तत्कालीन भारतीय अभिजन के दिमाग को भी अच्छी तरह पहचान लिया था। गांधी को क्यों स्वराज यानी अपनी - व्यक्ति के तौर पर, समाज के तौर पर, और राष्ट के तौर पर - स्वतंत्रता की इतनी गहरी चिंता करनी पड़ी, उसकी सार्थकता पूंजीवादी-साम्राज्यवादी गुलामी की तरफ भागते आज के भारतीय अभिजन को देख कर ज्यादा समझ में आती है। गांधी को ज्यादा अंदेशा पेशेवर बुद्धिजीवियों की तरफ से था। आज हम देखते हैं देश का बौद्धिक अभिजन प्रकट और प्रछन्न रूप में उस नवउदारवादी

अजेंडे का सारथी बना हुआ है, जिसे राजनैतिक अभिजन पूंजीवादी-साम्राज्यवादी प्रतिष्ठान के आदेश पर थोप रहा है।

जिस बौद्धिक अभिजन में अपनी आजादी की चेतना न रहे, वह सामान्य यानी देश अथवा मानवता की आजादी की चेतना की क्या परवाह करेगा? कुछ खरे जनसामान्य के बुद्धिजीवियों, जिन्होंने साम्राज्यवादी गुलामी के खिलाफ आजादी की चेतना का संघर्ष चलाया हुआ है, को छोड़ कर भारत के ज्यादातर बुद्धिजीवी अपनी आजादी गंवा चुके हैं। तभी यह संभव हुआ है कि पिछले 20 सालों में विश्व बैंक, अंतर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष, विश्व व्यापार संगठन और बहुराष्ट्रीय कंपनियों के निर्देश भारतीय संविधान पर भारी साबित हुए हैं।

इस बार हम शिक्षा पर कसे गए नवउदारवादी शिकंजे पर चर्चा करने जा रहे हैं, जो राजनैतिक, प्रशासनिक और बौद्धिक अभिजन की सम्मिलित करतूत है। इस लेख में हमारा फोकस मुख्यतः स्कूली शिक्षा पर है। उसका एक विशेष और ताजा संदर्भ है - हाल में बना 'बच्चों के लिए मुफ्त और अनिवार्य शिक्षा अधिनियम, 2009'।

इस कानून को अंजाम देने का सिलसिला भाजपानीत राजग सरकार के समय में शुरू हुआ था, जब उसने 2002 में 86वां संविधान संशोधन कर 1993 के सर्वोच्च न्यायालय के उस फैसले की काट निकाली थी, जिसके चलते 14 वर्ष तक के बच्चों को मुफ्त शिक्षा का मौलिक अधिकार मिल गया था। जिसे बाद में 86वां संविधान संशोधन कहा गया, राजग सरकार ने उसे 28 नवंबर 2001 को लोकसभा में 93वें संशोधन के नाम से पेश किया था। अनिल सदगोपाल ने उसी समय उस संशोधन का सतर्क विरोध किया था। 'राष्ट्रीय सहारा' और 'टाइम्स आफ इंडिया' के 28 नवंबर 2001 के अंकों में लेख लिख कर यह चेतावनी दी थी कि यह संशोधन देश के बच्चों को दिए गए शिक्षा के अधिकार को वापस छीनने वाला है। इस संशोधन के जरिए खंड 3 में जोड़े गए अनुच्छेद 21 (क) का वाक्यांश कि मुफ्त और अनिवार्य शिक्षा ''उस रीति से दी जाएगी जिसका निर्धारण राज्य कानूनन'' करेगा, उद्धृत कर उन्होंने बताया कि यह सरकार को मनमानी करने की छूट देता है और, सबसे बड़ी बात, भारतीय शिक्षा व्यवस्था में घुसपैठ बनाने वाली विश्व बैंक की नवउदारवादी नीतियों को वैधानिक आधार देता है।

होना तो यह चाहिए था कि संविधान निर्माताओं, खासकर डॉक्टर अंबेडकर, जो शिक्षा के अधिकार को संविधान के खंड 3 में मौलिक अधिकारों के साथ रखना चाहते थे, और जिन्होंने उसे संविधान के खंड 4 में राज्य के नीति-निर्देशक तत्वों के साथ इस संकल्प के साथ रखा कि दस वर्षों में शिक्षा के अधिकार का लक्ष्य हासिल कर लिया जाना चाहिए; और सर्वोच्च न्यायालय के फैसले का सम्मान करते हुए साठ साल बाद ही सही, देश के सभी नौनिहालों को समान गुणवत्ता वाली शिक्षा देने का उद्यम किया जाता। लेकिन हुआ यह कि भाजपा और कांग्रेस की मिलीभगत और अन्य राजनैतिक दलों के उनके साथ सहयोग से बच्चों को मिला मौलिक अधिकार इस कानून के जरिए छीन लिया गया।

अगर देश के प्रगतिशील बुद्धिजीवी, जिनका पोषण देश की मेहनतकश जनता की गाढ़ी कमाई की दौलत से होता है, उसी समय सन्नद्ध होकर इस जन-विरोधी संशोधन के खिलाफ उठ खड़े होते तो निश्चित ही संविधन की मूल भावना और सुप्रीम कोर्ट के फैसले की संगति में एक अलग कानून बना होता। इस बीच प्रगतिशील बुद्धिजीवी कौन-सी ज्यादा महत्वपूर्ण जनपक्षधर बहसें चला रहे थे, इसका जवाब वे खुद

अपने भीतर तलाशें तो ज्यादा अच्छा होगा। हम जितना जानते हैं उसे बयान करने में हमें खुद शर्म महसूस होती है। मौजूदा कानून संविधान, सर्वोच्च न्यायालय के फैसले और देश के गरीब बच्चों के खिलाफ पूंजीवादी-साम्राज्यवादी ताकतों के हित में भारत की मुख्यधारा राजनीति, नौकरशाही और बुद्धिजीवियों की एकजुटता का सबसे खुला और ताजा प्रमाण है।

पिछले, विशेषकर 20 वर्षों में, भारत की स्कूली शिक्षा किस कदर नवउदारवादी अजेंडे का ग्रास बना दी गई है, उसका ब्यौरा, इस कानून के हवाले से प्रोफेसर अनिल सदगोपाल की पुस्तिका 'संसद में शिक्षा का अधिकार छीनने वाला बिल' (प्रकाशक, किशोर भारती-सरोकार, भोपाल, दूसरा संस्करण, जून 2009) में विस्तार पूर्वक समुचित परिप्रेक्ष्य के साथ दिया गया है। यह लेख दरअसल उसी पुस्तिका के उद्देश्य को थोड़ा और विस्तार देने के लिए लिखा गया है।

शुरू में अनिल सदगोपाल की पुस्तिका से कुछ उद्धरण दृष्टव्य हैंः
''अस्सी के दशक के अंतिम वर्षों में अमरीका की मैसाच्यूसट्स इंस्टीट्यूट ऑफ टेक्नॉलॉजी के राजनीति विज्ञान के प्रोफेसर मायरन वीनर बाल मजदूरी और अनिवार्य शिक्षा का अध्ययन करने भारत आए। उन्होंने सन 1991 में छपी 'भारत में बच्चे और राज्य-नीति' नामक अपनी मशहूर पुस्तक में लिखा है, ''इस अध्ययन का मुख्य तर्क है कि भारत में प्रति व्यक्ति आय का कम होना या आर्थिक स्थिति का बदहाल होना उतना प्रासंगिक नहीं है जितना प्रासंगिक राज्य नौकरशाही के बने-बनाए मत हैं। इन मतों से व्यापक रूप से यहां के शिक्षाविद्, सामाजिक कार्यकर्ता, ट्रेड यूनियन में काम करने वाले, शोधकर्ता और मोटे तौर पर कहें तो भारतीय मध्य-वर्ग के लोग सहमत हैं। इनको वे दोनों मानते हैं जो शासन में हैं तथा जो शासन के बाहर हैं, आस्थावान हिंदू और अपने को धर्मनिरपेक्ष मानने वाले एवं वामपंथी और मध्यमार्गी व दक्षिणपंथी भी। इन मतों के मूल में समाज-व्यवस्था के बारे में भारतीय दृष्टि है। इस दृष्टि में मुख्यतः समाज के उच्च और निम्न तबकों की अलग-अलग भूमिकाओं से जुड़े विचार हैं और विभिन्न सामाजिक वर्गों के बीच भेदभाव बरकरार रखने के साधन के रूप में शिक्षा की भूमिका है। साथ में, ये चिंताएं भी हैं कि गरीबों को 'बहुत ज्यादा' और 'अनुपयुक्त' शिक्षा देने से मौजूदा ताना-बाना बिखर जाएगा। ... भारत के नीति निर्माताओं ने बड़े पैमाने पर शिक्षा के प्रसार को कभी भी भारत के आधुनिकीकरण के लिए बुनियादी तौर पर जरूरी नहीं समझा है। उल्टे इन्होंने अपने सारे संसाधनों को अभिजात सरकारी स्कूलों, राज्य-समर्थित प्राइवेट स्कूलों और उच्च शिक्षा में झोंक दिया। उनकी कोशिश रही है कि एक ऐसा शिक्षित वर्ग पैदा हो जो पश्चिम के शिक्षित वर्गों के बराबर हो और एक आधुनिक लेकिन विदेशी अंतःक्षेत्र में अधीनस्थ अर्थव्यवस्था के निर्माण और प्रबंधन में समर्थ हो।'' (पृ. 1)

''दरअसल, यह मौलिक अधिकार देने वाला नहीं, वरन छीनने वाला विधेयक है। यही इसकी असली मंशा है। जरा सोचिए, क्या शिक्षा का मौलिक अधिकार घटिया और भेदभावपूर्ण शिक्षा का हो सकता है? इस मायने में यह विधेयक न केवल संविधान का खुल कर मखौल उड़ाता है वरन शिक्षा-विरोधी और बाल-विरोधी भी है। ... देश की लोकतांत्रिक परंपराओं को दरकिनार करना और संसद की जगह बाजार को स्थापित करना भी वैश्वीकरण के तहत हावी नवउदारवादी सोच की पहचान है। जिस तरह विगत 20 वर्षों में जल-जंगल-जमीन और जीविका को निजी पूंजी व कारपोरेट घरानों को सौंपने के लिए लोकतांत्रिक परंपराओं को कमजोर करने वाले अनेक कानून (जैसे सेज के कानून) बनाए गए हैं, ठीक उसी तर्ज पर शिक्षा के अधिकार के नाम पर बना यह विधेयक भी है। ... दरअसल, यह विधेयक हमारे संविधान में

तथाकथित मुक्त बाजार और नवउदारवादी नीतियों का खुला हस्तक्षेप है। इसकी जगह संविधान की बुनियाद पर खड़े हुए एक नए विधेयक को लाने की लड़ाई के लिए आम जनता को तैयार करना होगा। तभी हम सभी बच्चों को बिना किसी भेदभाव की समतामूलक गुणवत्ता की शिक्षा देने वाली पड़ोसी स्कूल पर टिकी हुई समान स्कूल प्रणाली ... के जनता के सपने को साकार कर पाएंगे।'' (पृ. 5-6)

''पहला सवालः क्या कारण है कि आजादी के बाद साठ साल बीतने के बावजूद आज तक देश के सभी बच्चों को शिक्षा नहीं मिल पाई? जवाबः आजदी की लड़ाई के दौरान मैकाले की शिक्षा-प्रणाली को खत्म करके देश की जनता की जरूरतों के अनुरूप एक नई प्रणाली खड़ी करने का सपना देखा गया था। गांधी के नेतृत्व में नई तालीम की एक क्रांतिकारी कल्पना भी पेश की गई थी। लेकिन आजाद भारत के शासक-वर्ग को यह मंजूर नहीं था और उसने मैकाले की शिक्षा-प्रणाली को न केवल जारी रखा वरन उसे अपने आर्थिक-राजनीतिक स्वार्थ की पूर्ति के लिए और मजबूत किया।'' (पृ. 13)

''तीसरा सवालः क्या राज्यसभा में पेश किए गए 'बच्चों के लिए मुफ्त और अनिवार्य शिक्षा अधिकार विधेयक, 2008' के पारित होने पर सब बच्चों को उम्दा गुणवत्ता की शिक्षा मिलने की उम्मीदें बढ़ जाएंगी? जवाबः कतई नहीं। ठीक उल्टा ही होगा। यह इसलिए कि चूंकि इस विधेयक की जड़ें संविधान में नहीं हैं वरन नवउदारवादी पूंजी और मुक्त बाजारवाद में हैं। इसे मौलिक अधिकार के परिप्रेक्ष्य में तैयार करने के बजाय शिक्षा के बेलगाम बाजारीकरण की नीति के साथ समझौते करते हुए खैरात के रूप में लिखा गया है। इसे मौलिक अधिकार के खाके में डालने के लिए भारी संशोधनों की जरूरत पड़ेगी। दरअसल, यह 86वें संविधान संशोधन (2002) के अनुच्छेद 21 (क) के तहत है जो स्वयं संविधान में नवउदारवाद की घुसपैठ का परिणाम है। याद रहे कि सुप्रीम कोर्ट ने सन 1993 में उन्नीकृष्णन फैसला दिया था जिसके चलते अनुच्छेद 45 के तहत 14 वर्ष की आयु तक (छ वर्ष से कम आयु के बच्चों समेत) के बच्चों को मुफ्त और अनिवार्य शिक्षा का मौलिक अधिकार मिल गया था। तो फिर 86वें संशोधन की जरूरत क्यों पड़ी? इसकी जरूरत इसलिए पड़ी चूंकि भारत का शासक-वर्ग उन्नकृष्णन फैसले को पचा नहीं सका और उसने एक ऐसा संशोधन संविधान में करवाया ताकि सुप्रीम कोर्ट के द्वारा जो मौलिक अधिकार दिया गया था, उसे छीन लिया जाए।

86वें संविधान संशोधन के अनुच्छेद 21 (क) ने दो तरह से शिक्षा का मौलिक अधिकार छीना। पहला, 6 वर्ष से कम आयु के 17 करोड़ बच्चों को संतुलित पोषण, स्वास्थ्य और पूर्व-प्राथमिक शिक्षा की जो गारंटी मिल चुकी थी, वह छीन ली गई। दूसरा, अनुच्छेद 21 (क) के अनुसार 6-14 आयु के बच्चों को मुफ्त और अनिवार्य शिक्षा ''उस रीति से दी जाएगी जो राज्य कानूनन निर्धरित करेगा'' यानी मौलिक अधिकार का रूप क्या होगा यह तय करने का अधिकार सरकार को मिल गया। अन्य किसी भी मौलिक अधिकार में सरकार को यह अधिकार नहीं है। मकसद यह था कि जिला प्राथमिक शिक्षा कार्यक्रम (डीपीईपी) और सर्व शिक्षा अभियान (एसएसए) के दौरान शिक्षा में जो विकृतियां की गई थीं उन्हें सरकार कानून बना कर वैधानीकृत कर देगी। ताकि उस पर कोई सवाल न उठा सके। अन्यथा हम अदालत में जाकर यह कह सकते थे कि घटिया गुणवत्ता की बहु-परती शिक्षा संविधान की समानता और समान अवसरों के सिद्धांत का उल्लंघन करती है और इसीलिए इसकी जगह समान स्कूल प्रणाली लाई जाए। 86वें संविधान संशोधन ने मौलिक अधिकार की लड़ाई के ये सब दरवाजे बंद कर दिए। यदि संसद ने इस विधेयक को इसी रूप में पारित कर दिया तो ये बंद दरवाजे सील हो जाएंगे।'' (पृ. 20-21)

''दरअसल, शिक्षा की मुख्य लड़ाई सिर्फ समतामूलक गुणवत्ता की शिक्षा सबको उपलब्ध कराने और इस मकसद से उसका निजीकरण व बाजारीकरण रोकने मात्र की नहीं है। असली लड़ाई तो शिक्षा में निहित ज्ञान के चरित्र - राजनैतिक, सामाजिक एवं सांस्कृतिक - पर नियंत्रण की है। आप तय कीजिए कि आप कैसा भारत और उसके जरिए कैसी दुनिया चाहते हैं और इसके निर्माण के लिए आप कैसी ज्ञान अर्थव्यवस्था विकसित करना चाहेंगे? ज्ञान के इस 'संघर्ष और निर्माण' में भारत की जनता की क्या भूमिका होगी? आज देश के विभिन्न अंचलों में वैश्वीकरण की मार सह रही मेहनतकश लेकिन गरीब जनता जल-जंगल-जमीन-जीविका के चार संसाधनों को अपने अस्तित्व के लिए आवश्यक मान कर संघर्ष कर रही है। इस संघर्ष में समतामूलक गुणवत्ता की शिक्षा और उसमें निहित ज्ञान को पांचवे संसाधन के रूप में जोड़ने के सवाल पर व्यापक विमर्श विकसित करने की जरूरत है। इसी संघर्ष के जरिए ही यह संभव होगा कि हम भारत की शिक्षा का पुनर्निर्माण आम जनता के हित में कर पाएंगे। तभी वैश्विक शांति के लिए - न कि वैश्विक बाजार द्वारा शोषण, मुनाफे और वर्चस्व बढ़ाने के लिए - जनोन्मुखी ज्ञान अर्थव्यवस्था खड़ी हो पाएगी। तभी संविधान निर्माताओं का भारत में लोक-कल्याणकारी राज्य का निर्माण करने और साम्राज्यवाद के खिलाफ लड़ाई आगे बढ़ाने के लिए एक आवश्यक शर्त के रूप में भारत की संप्रभुता का सपना साकार हो पाएगा। (पृ. 52)

"14 जुलाई 2005 की बैठक के अनुभव के बाद 'केब' से कोई भी उम्मीद करने का तार्किक आधार मेरे पास नहीं बचा था। तब भी 'केब' के लोकतंत्र के नाम पर हो रहे ढकोसले को उजागर करने के इरादे से 6-7 सितंबर 2005 की बैठक में मैंने अपनी लड़ाई को आगे बढ़ाया। आम जनता के सामने यह ठोस अनुभव [हमारा अनुरोध है कि साथियों को आंख खोलने वाला पुस्तिका के तीसरे खंड में दर्ज यह अनुभव अवश्य पढ़ना चाहिए] इतना तो सिद्ध करता ही है कि ये तथाकथित लोकतांत्रिक निकाय व मंच अपनी विश्वसनीयता पूरी तरह खो चुके हैं - उनकी भूमिका सरकार द्वारा पहले से ही लिए गए निर्णयों पर मोहर लगाने तक सीमित कर दी गई है। इस संदर्भ में इन निकायों व मंचों में मनोनीत बुद्धिजीवियों, साहित्यकारों, समाजकर्मियों एवं अन्य विशिष्ट व्यक्तियों की भूमिका सरकारी फैसलों पर मोहर लगाने की उपरोक्त प्रक्रिया का अपनी 'लब्धप्रतिष्ठित' मौजूदगी से वैधानीकरण करना है। ताकि देश में लोकतांत्रिक सलाह-मश्विरे का भ्रम बना रहे। इसीलिए जनता को अपने अधिकारों की लड़ाई बंद कमरों में नहीं वरन बाहर सड़कों पर जन आंदोलन के जरिए लड़नी होगी। बुद्धिजीवियों की परीक्षा यही है कि वे अपने भ्रमों के दायरों को तोड़ कर जन आंदोलन को समृद्ध करने में अपने ज्ञान का योगदान दें अन्यथा उनकी विश्वसनीयता पर भी 'केब' की तरह सवालिया चिन्ह लग जाएंगे।" (पृ. 92)

हम यहां थोड़ा रुक कर, प्रोफेसर अनिल सदगोपाल के बारे में आपको बताना चाहेंगे। वे देश के मूर्धन्य शिक्षाविद हैं। इस क्षेत्र में उनका काम, मैदानी से लेकर अकादमिक तक, अत्यंत महत्वपूर्ण है। बल्कि, उसे समकालीन परिदृश्य में अतुलनीय कहा जा सकता है। वे बच्चों की शिक्षा, विशेषकर विज्ञान-शिक्षा के होशंगाबाद-प्रयोग और जनविज्ञान जत्था से संबद्ध रहे हैं। दिल्ली विश्वविद्यालय के शिक्षा संकाय में प्रोफेसर और नेहरू मेमोरियल म्यूजियम ऐंड लायब्रेरी में फेलो भी रहे हैं। उनकी प्रतिष्ठा इस बात में है कि उन्होंने देश की शिक्षा--व्यवस्था पर पिछले 20 सालों से लगातार कसे जा रहे नवउदारवादी शिकंजे के विरोध में सतत, निर्भय और अनथक संघर्ष कर किया है जो आज भी जारी है। उन्होंने इस दिशा में गंभीर अध्ययन कर अपने लेखों, पुस्तिकाओं और व्याख्यानों द्वारा हकीकत सामने रखी है।

शिक्षा से संबधित समितियों में नेताओं, नौकरशाहों और उनके लिए काम करने वाले बुद्धिजीवियों से गंभीर जिरह की है। वामपंथी पार्टियों के नेताओं से मिल कर उनसे अपनी पार्टियों के स्तर पर शिक्षा में थोपे जा रहे नवउदारवादी अजेंडे के खिलाफ हस्तक्षेप करने की अपील की है। वामपंथी पार्टियों से संबद्ध छात्र संगठनों के पास इस मुद्दे पर आंदोलन खड़ा करने की अपेक्षा में बार-बार गए हैं। नवउदारवादी अजेंडे के विरोध में संघर्ष करने वाले विविध जनांदोलनकारी संगठनों और विशिष्ट व्यक्तियों के बीच भी वे शिक्षा के सवाल को लेकर गए हैं।

वे देश के पहले ऐसे बुद्धिजीवी हैं जिन्होंने जनांदोलनकर्ताओं से आग्रह किया है कि वे जल-जंगल-जमीन-जीविका के लिए किए जाने वाले संघर्ष के साथ शिक्षा को भी रखें। यह बिलकुल सही आग्रह है। बल्कि, अगर समन्वय की तलाश में लगे रहने वाले जनांदोलनों की एकजुटता शिक्षा के सवाल पर बन जाए तो उसके बहुत ही सार्थक परिणाम निकल सकते हैं, और आगे के समग्र संघर्ष का रास्ता भी।

अनिल सदगोपाल ने अपने उद्यम में छोटे या बड़े संगठन अथवा व्यक्ति का खयाल नहीं रखा है। समाजवादी जन परिषद (सजप) जैसे छोटे राजनैतिक दल और विद्यार्थी युवजन सभा (वियुस) जैसे छोटे युवा एवं छात्र संगठन के पास भी वे बार-बार जाते हैं। शायद इन दोनों संगठनों को नवउदारवाद विरोध की सबसे खरी आवाज भी मानते हैं। यूं तो अनिल सदगोपाल शिक्षा की समस्या पर समग्र रूप में विचार करते हैं, और प्रत्येक क्षेत्र में नवउदारवाद के कसते शिकंजे के साथ शिक्षा को भी रख कर देखते हैं, लेकिन पिछले पांच-छह सालों में उन्होंने ज्यादा समय 'बच्चों के लिए मुफ्त और अनिवार्य शिक्षा अधिकार विधेयक, 2008' और उसकी पृष्ठभूमि 86वें संविधान संशोधन की समीक्षा और विरोध में लगाया है।

हालांकि, वह विधेयक 86वें संविधन संशोधन को मान्य बनाते हुए अब कानून बन चुका है, लेकिन अनिल सदगोपाल ने उसके खिलाफ संघर्ष छोड़ा नहीं है। वे उतने ही दम-खम से मैदान में हैं। बिना गिला और शिकवा के कि किसने कितना साथ दिया या साथ नहीं भी दिया। शिकायत उन्हें एक समय उनके सहकर्मी रहे शिक्षा के क्षेत्र के उन कुछ महारथियों से भी नहीं है, जिन्होंने 'केब' में विधेयक के विरोध में उनका कभी साथ नहीं दिया, और पूरी तरह सरकार की गैल पकड़ ली है।

अक्सर आपने देखा होगा व्यवस्था समर्थक बुद्धिजीवी अपने पर कुछ ज्यादा ही रीझे रहते हैं। उसका कारण भी छिपा नहीं होता। वे अपने व्यवस्था का मातहत होने की सच्चाई को अपने और दूसरों से छिपाने के लिए अपने में खोए रहने का भ्रम रचते हैं। वे ऐसी मुद्रा में बोलते हैं मानो किसी दूर देश के प्राणी हैं, उन्हें भला इस दुनिया की व्यवस्था से क्या लेना! साहित्य में इस तरह के चरित्रों को आत्मव्यामोहित चरित्र कहा जाता है। कई बार व्यवस्था-विरोधी लोग भी अपने वैसा, यानी व्यवस्था के विरोधी, होने पर रीझे रहते हैं। उनका हश्र भी व्यवस्था-सर्मथक लोगों से ज्यादा अलग नहीं होता। उनका आत्मव्यामोह उन्हें अपने संघर्ष का विस्तार नहीं करने देता। वे या तो अंततः सत्ता की सेवा में रत हो जाते हैं, या फिर आत्महंता।

पुस्तिका के खंड तीन के शुरू में अनिल सदगोपाल ने लिखा हैः "शिक्षा के मौलिक अधिकार की लड़ाई सरकारी मंचों, समितियों एवं आयोगों के अंदर और बाहर दोनों दायरों में लड़ी गई है। इस आलेख में एक उच्च स्तरीय सरकारी समिति केंद्रीय शिक्षा सलाहकार बोर्ड (केब) के अंदर मेरे द्वारा लड़ी गई

लड़ाई के अनुभव की कहानी दर्ज की गई है। ... जाहिर है कि यह कहानी मेरे नजरिए से कही गई है। इसलिए इसमें मेरे पूर्वग्रहों व आग्रहों का झलकना स्वाभाविक है। मैंने हरेक अनुभव की व्याख्या मेरे विचारधारात्मक खाके में ही की है। ... इस कहानी में मैंने जहां एकदम जरूरी समझा वहां चंदेक प्रमुख लोगों के नामों का जिक्र किया है। या फिर बिना नाम लिए उनकी ओर संकेत किया है। ऐसा करने में मेरा मकसद किसी व्यक्ति विशेष पर किसी भी प्रकार का आक्षेप करना नहीं था। मेरा मानना है कि इस समिति में जो कुछ भी मेरा अनुभव हुआ, वह पूंजीवाद के नवउदारवादी चरण के ऐतिहासिक दौर का अपरिहार्य हिस्सा है।'' (पृ. 78)

जाहिर है, अनिल सदगोपाल अपने पर रीझे हुए नहीं, मुद्दे पर डटे हुए बुद्धिजीवी हैं। उनकी समझदारी का विस्तार मार्क्स से गांधी तक है। उनमें नवउदारवाद के खिलाफ और समता के पक्ष में सक्रिय शक्तियों के समन्वय की समझदारी और योग्यता है। जबकि ज्यादातर बुद्धिजीवी समता के स्थनापन्न समावेश के हामी बन चुके हैं। तभी अनिल सदगोपाल इस संघर्ष को भारत की जनता का संघर्ष कह पाते हैं। इस विश्वास के साथ कि नवउदारवादी अजेंडे के खिलाफ वह आगे भी जारी रहेगा। और जीत भी हासिल होगी। **अलख जगाना शायद इसे ही कहते हैं!**

प्रछन्न नवउदारवादियों की भूमिका

अनिल सदगोपाल की पुस्तिका से ये कुछ लंबे उद्धरण देने और उनके बारे में बताने की छूट हमने विशेष प्रयोजन से ली है। इन उद्धरणों से पता चल जाता है कि भारतीय शिक्षा-नीति और व्यवस्था किस कदर नवउदारवादी शिकंजे में फंस चुकी है। जिस तरह अर्थव्यवस्था को नवउदारवादी सांचे में ढालने के लिए संविधान की विचारधारा को विकृत किया गया, शिक्षा-व्यवस्था के मामले में भी वही हुआ है। यह अकेले राजनैतिक अभिजन की करतूत नहीं हैं, बौद्धिक अभिजन का उन्हें सहयोग है। जो लोग इस पुस्तिका को पूरा पढ़ेंगे वे जान जाएंगे कि संविधान की विचारधारा को विकृत करने का काम सफाई से नहीं, खुली निर्लज्जता के साथ किया जा रहा है। आज निर्लज्जता भले ही नेताओं और नौकरशाहों की ज्यादा नजर आती है, कल बुद्धिजीवी भी वैसी ही निर्लज्जता पर उतर आ सकते हैं।

इस नवउदारवादी दौर में किसी प्रिंसिपल, वाइस चांसलर या किसी महत्वपूर्ण समिति में मनोनीत बुद्धिजीवी के साथ शिक्षा में सरकारों द्वारा थोपे जा रहे नवउदारवादी अजेंडे के विरोध में बात करना बहुत मुश्किल होता रहा है। यहां तक कि ज्यादातर शिक्षकों के साथ भी। संविधान में निहित सबको और समान शिक्षा देने के संकल्प का हवाला देने पर वे उखड़ जाते हैं। वे अपने विषय के ज्ञाता हो सकते हैं, लेकिन उन्होंने संविधान पढ़ा नहीं होता है। बताने पर उन्हें अचरज होता है कि ऐसा कोई संविधान है! वे शिक्षक होने के बावजूद पूरी तरह शासक-जमात की मान्यताओं में रमे होते हैं। मायरन वीनर का जो निष्कर्ष 1991 में था, नवउदारवादी दौर के 20 साल बीतने पर वह और पुख्ता हुआ है।

अनिल सदगोपाल ने 'केब' का सदस्य होने के नाते कुछ नामों का उल्लेख और कुछ का संकेत किया है, जिन्होंने विधेयक पर सरकार का पक्ष लिया। इस विधेयक को लेकर वे 'केब' के बाहर भी सक्रिय रहे हैं और वहां भी उन्हें बुद्धिजीवियों के पक्ष का अनुभव हुआ होगा। हालांकि, जब नेता और नौकरशाह सामने नहीं होते तो बुद्धिजीवी सामान्यतः जनहित के किसी मुद्दे पर पूरे समर्थन और संघर्ष का आश्वासन दे डालते हैं। 'महत्वपूर्ण इंगेजमेंट' से फुर्सत रही तो किसी कार्यक्रम में आ भी जाते हैं। उनकी

सच्चाई बरतने पर ही पता चल पाती है। और वह यही होती है कि उनका आश्वासन झूठा होता है। अनिल सदगोपाल को इस संदर्भ में 'केब' के सीमित दायरे से बाहर के अनुभवों का भी उल्लेख करना चाहिए। उससे नवउदारवाद के विरोध में सक्रिय साथियों के सामने चुनौती की तस्वीर साफ होगी।

'केब' की बैठकों में प्रतिष्ठित बुद्धिजीवियों और समाजकर्मियों के बारे में जो अनुभव पुस्तिका में आया है, उसे पढ़ कर लगता है कि अनिल जी उन्हें पृष्ठभूमि का मारा मान रहे हैं। वे लिखते हैं "... हरेक व्यक्ति अपनी सामाजिक-आर्थिक वर्ग-पृष्ठभूमि और शासक-वर्ग व बाजार के साथ रिश्ते के कारण एक खास तरह की तयशुदा भूमिका निभाता है। कुछ लोग ऐसे जरूर होते हैं जो खास हालात के कारण अपनी वर्ग-पृष्ठभूमि के बावजूद अलग हटकर प्रगतिशील और जनपक्षी भूमिका अदा कर पाते हैं या उसकी कोशिश करते हैं, लेकिन अधिकांश लोग अपने तयशुदा दायरे को तोड़ नहीं पाते। इस समझ के साथ मेरी दिलचस्पी किसी व्यक्ति-विशेष को नकारात्मक छवि में ढालने की कतई नहीं है ... हम सभी अपनी-अपनी वर्ग-पृष्ठभूमि व समझ के हिसाब से कर्म करते हैं लेकिन किसी अन्य ऐतिहासिक दौर में हममें से हरेक में छिपी संभावनाएं उजागर होकर सकारात्मक रूप से हमारी भूमिका बदल सकती हैं।" (78-79)

यहां पहली बात यह कि इससे ज्यादा नकारात्मक छवि क्या होगी कि किसी प्रतिष्ठित बुद्धिजीवी और उसके कर्म व फैसले को उसकी पृष्ठभूमि का बंदी बता दिया जाए! दूसरी बात यह कि ऐतिहासिक दौर में छिपी संभावनाओं का सकारात्मक उद्रेक इलहाम जैसी कोई चीज लगती है! तीसरी बात, अनिल सदगोपाल की पुस्तिका से हल्की ध्वनि यह भी निकलती है कि वे 'केब' में उनका समर्थन न करने वाले बुद्धिजीवियों को कुछ देर के लिए रास्ता भटका हुआ या सत्ता के दबाव में मान रहे हैं। उनके मन में कहीं एक आशा भी है कि वे लौट आएंगे। इसके लिए हम भी उन्हें शुभकामनाएं देते हैं!

खैर, इन तीनों बातों को जाने दें। हमें यह व्याख्या समस्यात्मक लगती है। कम से कम आधुनिक संक्रमणकालीन भारत के संदर्भ में, जहां शायद ही कोई पृष्ठभूमि टकसाली होती हो। आलंकारिक भाषा में कहें तो यहां न जाने कितनी बिल्लियां जीवन-भर जीवन का रास्ता काटती हैं। छोटे-से उच्च-वर्ग को छोड़ दें तो भारत में शायद ही कोई ऐसा बचपन, कैशोर्य, यौवन या जीवन का उत्तरकाल होता है, जो एकांतिक सामाजिक-आर्थिक पृष्ठभूमि की निर्मिति होता हो। शिक्षकों का तो कतई नहीं। सामान्यतः यहां शिक्षक वही बनता है जिसकी आर्थिक पृष्ठभूमि निचले पायदान वाली होती है। वर्ण और जाति से अगड़ा होने पर भी गरीब ही शिक्षक बनता है। उसने अभाव देखा होता है। अपनी वैसी पृष्ठभूमि के चलते उसे नवउदारवाद का समर्थक नहीं होना चाहिए। शिक्षक बनने के बाद, अगर वह सरकारी स्कूल में है या महाविद्यालय-विश्वविद्यालय में, तो कक्षा में हर साल उसका साबका अनेक छात्रों के रूप में विविध किंतु ढीली-ढाली पृष्ठभूमियों से पड़ता है, जो उसकी अपनी पृष्ठभूमि से मिलती-जुलती होती हैं। उस नाते भी उसे नवउदारवाद का समर्थक नहीं होना चाहिए। दलित व आदिवासी शिक्षकों, लेखकों और विचारकों को तो और भी नहीं। अपनी पृष्ठभूमि के चलते उनसे ज्यादा मानवता की छाती पर जमे पूंजीवाद के नवउदारवादी दौर तक के पुख्ता 'पिरामिड' के बोझ को कौन अनुभव कर सकता है? लेकिन हम सब जानते हैं भारत के ज्यादातर दलित बुद्धिजीवी नवउदारवाद के समर्थक हैं, या उसके विरोध में नहीं हैं।

प्रोफेसर कृष्ण कुमार, अनिल सदगोपाल ने जिनका नाम लिया है, तो शिक्षक होने के साथ जाने-माने बुद्धिजीवी और लेखक हैं। उनकी वर्ग-स्थिति नवउदारवाद के समर्थन वाली होती तब भी अपने बुद्धि-बल से वे उसे बदल सकते थे। समस्या बनी रह जाती है कि क्यों इतिहास के इस खास दौर में अनिल सदगोपाल की अंतर्निहित संभावनाएं उन्हें नवउदारवाद के विरोध में ले जाती हैं, जबकि उनकी जैसी पृष्ठभूमि के कृष्ण कुमार अथवा अन्यों को समर्थन में? हमें लगता है पृष्ठभूमि से उतना नहीं, सचेत विचारणा से पक्षधरता तय होती है। कम से कम बुद्धिजीवियों के बारे में यही सही लगता है।

दुनिया और भारत के ज्यादातर बुद्धिजीवी प्रगति और विकास का अर्थ वही मानते हैं जो पूंजीवाद ने चलाया हुआ है। कोई अपनी मान्यता को सीधे प्रकट करते हैं, कोई प्रछन्न रूप में। भारत के ज्यादातर प्रगतिशील और धर्मनिरपेक्ष बुद्धिजीवी प्रछन्न नवउदारवादी हैं। यानी प्रगति और विकास का पूंजीवादी अर्थ मानते हुए भी कभी धर्मनिरपेक्षता और कभी लोकतंत्र की आड़ में अपना मंतव्य पूरा करते हैं। उन्हें सीधे अपने दिमाग की पूंजीवादी गुलामी कबूलने में शायद शर्म आती है। उसके लिए मधु किश्वर जैसा साहस चाहिए जिनका मानना है कि 2004 का आम चुनाव भाजपानीत राजग सरकार इसलिए हारी क्योंकि उसने नवउदारवादी सुधारों को अपेक्षित तेजी से लागू नहीं किया। इस तर्क से इस बार कांग्रेसनीत यूपीए सरकार की जीत का कारण स्पष्ट है कि उसने सुधारों को तेजी से लागू किया। इस वास्तविकता को पहचान लिया जाए तो कोई समस्या नहीं रह जाती।

प्रछन्न और प्रकट नवउदारवादियों के अंतर्मन की झांकी एक-जैसी होती है जो आसानी से पाई जा सकती है। गर्द झुकाइए और देख लीजिए! आपको दिखेगा कि वे मान चुके हैं भारत को जैसा बनना था बन चुका है। अब उसी में, उसे ऐसा बनाने वालों के साथ, अपनी प्रतिभा लगानी है। नवउदारवाद के खिलाफ देश और दुनिया में चल रहे जनांदोलन जल्दी ही दम तोड़ जाएंगे। जब तक नहीं तोड़ते, हम उन्हें भटकाए रखेंगे। डब्ल्यूएसएफ है ना! नक्सलवादियों को राज्य-सत्ता अमेरिका की सहायता से निपटा देगी। पूंजीवदी की तरह हर प्रगतिवादी दिमाग यह मानता है कि किसानों और कारीगरों को तो एक दिन निपटना ही है। 'सूनर इज बैटर'। वे नहीं रहेंगे तो आबादी और पिछड़ेपन की समस्या आप हल हो जाएगी। फिर चैन की बंसी बजेगी। उसी तरह जैसे उनकी संतानें अमेरिका और समृद्ध यूरोपीय देशों में बजा रही हैं। वहां आपको यह झलक भी मिलेगी कि पूंजीवाद का किला अमेरिका और यूरोप में भले ही कभी ढह जाए, भारत में वह बना रहेगा। पूंजीवाद के अगले स्तंभ भारत और चीन होंगे।

क्या जवाब है जनाब का?

अगर कोई शिक्षा अधिकार विधेयक का समर्थन करने के बाद भी कहता है कि वह नवउदारवाद का समर्थक नहीं है तो उससे चंद सवाल पूछे जा सकते हैं। बल्कि, अनिल सदगोपाल ने मामला आसान कर दिया है। उससे सीधे कहा जा सकता है कि वह अनिल सदगोपाल की पुस्तिका का बिंदुवार जवाब देकर यह सिद्ध कर दे कि यह कानून नवउदारवादी अजेंडे के तहत नहीं, भारतीय संविधान की मूल भावना के तहत बनाया गया है। विधेयक पर होने वाली एक बहस में सुना है अनिल सदगोपाल की आपत्ति पर कृष्ण कुमार ने कहा, 'न नौ मन तेल होगा न राधा नाचेगी'। आजादी के साठ साल बाद भी देश के बच्चों को शिक्षा न मिल पाने जैसी गंभीरतम समस्या पर चर्चा के समय यह जुमलेबाजी, अगर डॉक्टर लोहिया का शब्द लें, भारतीय बुद्धिजीवी के पाजीपन को दर्शाती है। हमें वे तब भी हद दर्जे के

लापरवाह नजर आए थे जब उन्होंने पिछले दिनों आई यशपाल कमेटी की रिपोर्ट को 'ऐतिहासिक' बताया था।

फिर भी हम उनके जुमले का आशय - 'जितना और जिस तरह हो पा रहा है उतना होने दो, आदर्श स्थिति अगर साठ साल में नहीं आई तो अब आपके शोर मचाने से नहीं आ जाएगी।' - समझ कर इस कानून के बारे में कुछ सवाल पूछते हैंः एक से 6 साल और 14 से 18 साल तक के बच्चों को शिक्षा के मौलिक अधिकार से बाहर छोड़ने के बाद जितने बच्चे शिक्षित होंगे क्या उन्हें समान गुणवत्ता वाली शिक्षा मिल जाएगी? इस कानून से देश में जड़ जमा कर बैठी असमान शिक्षा प्रणाली में कुछ कमी आएगी? शिक्षा के बाजारीकरण का सिलसिला कुछ कम होगा? सरकारी खैरात पाकर मुनाफा कमाने वाले स्कूलों का कुछ नियमन संभव होगा? यशपाल कमेटी की रिपोर्ट की 'ऐतिहासिकता' भारत के संविधान की संगती में है या नवउदारवादी एजेंडे की? सवाल और कई हो सकते हैं और इस कानून के किसी भी उस समर्थक से पूछे जा सकते हैं, जिसका तर्क है कि जब 60 साल के संघर्ष के बावजूद एक से 14 अथवा 18 साल तक के बच्चों को मुफ्त, अनिवार्य और समान गुणवत्ता वाली शिक्षा का अधिकार नहीं मिला तो जितना इस कानून द्वारा मिला है उसे लेकर आगे संघर्ष करना चाहिए।

जवाब आना चाहिए। रचनात्मक बहस होनी चाहिए। अगर जवाब नहीं आता है। बहस नहीं चलाई जाती है तो यह स्वयंसिद्ध है, आड़ जो भी हो, हैं आप नवउदारवाद के साथ। आपके वर्तमान आदर्श नेता सोनिया जी-मनमोहन जी हैं और कल के राहुल जी। भारतीय संविधान आपके लिए उसी तरह कोई मायने नहीं रखता जिस तरह से आपके नेताओं के लिए। आप समानता के नहीं, समावेश के संघर्ष के सिपाही हैं।

अनिल सदगोपाल की इस टिप्पणी के साथ समाप्त करते हैंः ''यह स्पष्ट होना चाहिए कि 'समावेश' की बात तभी की जाती है जब संविधान के समानता के सिद्धांत को नकारा जाता है। निःसंदेह, संसद में पेश शिक्षा अधिकार विधेयक 'समावेश' के खाके में बनाया गया है, न कि समानता के।'' (पृ. 8)

(*समाजवादी आंदोलन से जुड़े लेखक दिल्ली विश्वविद्यालय के पूर्व शिक्षक और भारतीय उच्च अध्ययन संस्थान, शिमला के पूर्व फ़ेलो हैं।*)

6-JUNE-2026